International Journal of Enhanced Research in Educational Development (IJERED)
ISSN: 2320-8708, Vol. 14 Issue 4, July-August, 2026

वर्तमान युग को अध्यात्म से जोड़ने के उपक्रम के विविध आयाम

स्वस्ति श्री स्वामी डॉ. जयेन्द्र कीर्ति (उज्जैन)[1], डॉ. आचार्य प्रणाम सागर जी[2]

[1]प्राद्योगिक विष्वविद्यालय जयपुर म.प्र.
[2]भक्तामर कलष तीर्थ, भांडगांव

सारांश

वर्तमान युग विज्ञान, तकनीक, भौतिक प्रगति और तीव्र प्रतिस्पर्धा का युग है। जीवन की सुविधाएँ निरंतर बढ़ रही हैं, किंतु इसके साथ मानसिक तनाव, असंतोष, अकेलापन, मूल्य–संकट और सामाजिक विघटन जैसी चुनौतियाँ भी सामने आ रही हैं। ऐसी स्थिति में अध्यात्म का उद्देश्य व्यक्ति को संसार से विमुख करना नहीं, बल्कि आधुनिक जीवन को आंतरिक शांति, नैतिकता, विवेक और मानवीय संवेदना से जोड़ना है। वर्तमान युग को अध्यात्म से जोड़ने के प्रमुख आयाम जैन धर्म केवल एक पंथ नहीं बल्कि जीवन जीने का एक वैज्ञानिक और तार्किक द्रष्टिकोण हैं। समकालीन वैष्विक संकटों के संदर्भ में जैन दर्षन के प्रमुख सिद्धांतों की प्रासंगिकता को समझा जा सकता है।

कूटषब्द– अहिंसा, अनेकांतवाद, सहिष्णुता, अपरिग्रह, उपभोगतावाद, कर्मसिद्धांत, पराधिनता, स्वाधिनता, व्यवहार निष्चय, कर्ता ज्ञाता दृष्टा आदि।

प्रस्तावना

जैनधर्मानुसार अहिंसा जैन आचार–दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह आधार है जिस पर समस्त जैन आचार–विधि अवस्थित है। आगमों में अहिंसा को 'भगवती' की संज्ञा दी गयी है। प्रश्नव्याकरण–सूत्र के अनुसार भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, प्यासे को जैसे पानी, भूखे को जैसे भोजन, समुद्र के बीचो–बीच जैसे जहाज, रोगियों को जैसे दवा आधारभूत है, उसी प्रकार अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चराचर जगत के प्राणियों के लिए कल्याणकारी है। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश देते हैं कि किसी भी प्राण, पूत, जीव एवं सत्व को किसी भी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न ही किसी की हत्या करनी चाहिए। यही शुद्ध, नित्य एवं शाश्वत धर्म है। समस्त संसार की पीड़ा को जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है। सूत्र कृतांग के अनुसार ज्ञानी होने का तात्पर्य यह है कि कोई भी प्राणी हिंसा न करें। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है। इसे हमेशा ही स्मरण करना चाहिए। 'दशवैकालिकसूत्र' के अनुसार सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने से महावीर ने इसे प्रथम स्थान दिया है। अहिंसा के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है।

अध्ययन के उद्देष्य

1. शिक्षा के माध्यम से अध्यात्म– शिक्षा में नैतिक मूल्यों, आत्मानुशासन, करुणा, अहिंसा, सत्य, सह–अस्तित्व और आत्मचिंतन को स्थान दिया जाए। विद्यार्थियों को केवल रोजगार योग्य बनाने के साथ–साथ उन्हें जिम्मेदार और संवेदनशील मनुष्य बनाना आवश्यक है।

2. योग एवं ध्यान का प्रसार– योग, प्राणायाम और ध्यान आधुनिक जीवन की भागदौड़ में मानसिक संतुलन प्रदान कर सकते हैं। इन्हें केवल शारीरिक व्यायाम न मानकर आत्मनिरीक्षण और मन की एकाग्रता का माध्यम बनाया जाना चाहिए।

3. प्रौद्योगिकी और अध्यात्म का समन्वय– डिजिटल माध्यमों, मोबाइल एप, ऑनलाइन व्याख्यान, ई–पुस्तकों और सोशल मीडिया के द्वारा आध्यात्मिक साहित्य एवं चिंतन को नई पीढ़ी तक पहुँचाया जा सकता है। तकनीक अध्यात्म की विरोधी नहीं, बल्कि उसके प्रसार का प्रभावी माध्यम बन सकती है।

4. युवा पीढ़ी को अध्यात्म से जोड़ना– युवाओं के लिए अध्यात्म की भाषा सरल, तार्किक और समकालीन होनी चाहिए। उनके प्रश्नों का समाधान संवाद, तर्क और अनुभव के आधार पर किया जाए, जिससे अध्यात्म उनके लिए जीवनोपयोगी बने, केवल उपदेशात्मक नहीं।

5. पर्यावरण संरक्षण को आध्यात्मिक दृष्टि देना– भारतीय अध्यात्म में प्रकृति के प्रति श्रद्धा और सह–अस्तित्व की भावना रही है। पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और जीव–जंतुओं के संरक्षण को आध्यात्मिक जिम्मेदारी के रूप में स्वीकार करना वर्तमान समय की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

6. परिवार और सामाजिक जीवन में अध्यात्म– अध्यात्म को केवल पूजा–स्थलों तक सीमित न रखकर परिवार, कार्यस्थल और सामाजिक व्यवहार में उतारना चाहिए। प्रेम, क्षमा, संयम, सहयोग और परस्पर सम्मान जैसे मूल्य परिवार को मजबूत बनाते हैं।

7. अहिंसा और करुणा का विस्तार– आज के संघर्षपूर्ण वातावरण में अहिंसा, करुणा और सहिष्णुता की भावना अत्यंत आवश्यक है। अध्यात्म व्यक्ति को केवल अपने सुख के बारे में नहीं, बल्कि दूसरे प्राणियों के सुख–दुःख के प्रति भी संवेदनशील बनाता है।

8. भौतिकता और आध्यात्मिकता में संतुलन– आधुनिक जीवन में धन, तकनीक और सुविधाओं का महत्व है, लेकिन उन्हें जीवन का अंतिम लक्ष्य मानना उचित नहीं। अध्यात्म व्यक्ति को यह समझने में सहायता करता है कि साधन आवश्यक हैं, परंतु साध्य केवल भौतिक उपलब्धि नहीं है।

9. कार्यस्थल पर आध्यात्मिक मूल्य– ईमानदारी, पारदर्शिता, कर्तव्यनिष्ठा, नेतृत्व में संवेदनशीलता और सहकर्मियों के प्रति सम्मान जैसे मूल्य कार्यक्षेत्र को अधिक मानवीय बना सकते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म केवल आजीविका नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व भी है।

10. अंतर धार्मिक एवं सांस्कृतिक संवाद– अध्यात्म को संकीर्ण धार्मिक सीमाओं से ऊपर उठाकर मानवता, शांति और सह–अस्तित्व का आधार बनाया जा सकता है। विभिन्न परंपराओं के बीच संवाद से परस्पर सम्मान और वैश्विक सद्भाव को बढ़ावा मिलता है।

11. 1. अहिंसा और वैश्विक शांति– वर्तमान समय में युद्ध, आतंकवाद और मानसिक तनाव चरम पर हैं। ऐसे में जैन दर्शन का अहिंसा का सिद्धांत सबसे बडा मार्गदर्शक है। मन, वचन और कर्म से अहिंसाः जैन दर्शन केवल शारीरिक हिंसा का निषेध नहीं करता, बल्कि किसी को कटु वचन बोलने और मन में बुरा सोचने को भी हिंसा मानता है। पर्यावरणीय प्रासंगिकताः जैन अहिंसा में सूक्ष्म जीवों, वनस्पतियों और प्रकृति की रक्षा शामिल है। आज का 'ग्लोबल वार्मिंग' और जलवायु परिवर्तन का संकट प्रकृति के प्रति मानवीय हिंसा का ही परिणाम है।

2. अनेकांतवाद और वैचारिक सहिष्णुता– आज समाज में वैचारिक मतभेद, धार्मिक कट्टरता और राजनीतिक ध्रुवीकरण बहुत बढ़ गया है। लोग केवल अपने दृष्टिकोण को सही मानते हैं। सत्य के बहुआयामी रूपः अनेकांतवाद सिखाता है कि सत्य के कई पहलू होते हैं (जैसे हाथी और अंधे व्यक्तियों की कहानी)। किसी एक विचार को पूरी तरह खारिज करना गलत है। 'स्याद्वाद' का दृष्टिकोणः यह सिद्धांत बातचीत में 'शायद' या 'एक दृष्टिकोण से' शब्द के उपयोग पर बल देता है। यह दूसरों के विचारों का सम्मान करना और मतभेदों को संवाद के जरिए सुलझाना सिखाता है।

3. अपरिग्रह और उपभोक्तावाद से मुक्ति– आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या अंधी दौड़ और अत्यधिक उपभोग है। व्यक्ति भौतिक साधनों को इकट्ठा करने में लगा है, जिससे मानसिक अशांति और आर्थिक असमानता पैदा हो रही है। इच्छाओं पर नियंत्रणः अपरिग्रह का अर्थ है अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना और संग्रह न करना। सतत विकासः यदि मनष्य अपनी जरूरतों को सीमित कर ले, तो पृथ्वी के संसाधनों का अत्यधिक दोहन रुकेगा। यह अमीर और गरीब के बीच की खाई को कम करने का एकमात्र व्यावहारिक तरीका है।

4. कर्म सिद्धांत और व्यक्तिगत जिम्मेदारी– आज का मनुष्य अपनी असफलताओं और दुखों के लिए दूसरों को या भाग्य को दोष देता है। स्वयं के भाग्य विधाताः जैन दर्शन के अनुसार हर व्यक्ति अपने कर्मों का फल भुगतता है। कोई ईश्वर या बाहरी शक्ति हमारे भाग्य को नियंत्रित नहीं करती। नैतिक जिम्मेदारीः यह सिद्धांत व्यक्ति को भीतर से ईमानदार और नैतिक बनाता है, क्योंकि उसे पता है कि गलत कर्मों का परिणाम उसे स्वयं ही भुगतना पड़ेगा। यह समाज से भ्रष्टाचार और अपराध को कम करने में सहायक है।

पराधीनः सदा जीवः, भ्रमति चतुर्गतीषु वै।
स्वाधीनो ज्ञातृभावेन, तिष्ठेत् मोक्षमार्गगः।।

जो जीव दूसरों की इच्छा और मोह के अनुसार जीवन जीता है, वह जन्म–मरण में भटकता रहता है। समाज, परिवार और लोकलाज की पराधीनता उसे चारों गतियों में घुमाती रहती है। जो आत्मा अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वरूप को पहचान लेती है, वह भीतर से स्वाधीन हो जाती है। आत्मस्वाधीनता ही मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी है।

निश्चयव्यवहारौ द्वौ, तटौ इव सरित्पथे।
आत्मसागरे प्राप्ने, तयोर्नास्ति पृथक्क्रिया।।

निश्चय और व्यवहार धर्म नदी के दो किनारों के समान हैं, जो साधना के मार्ग को संतुलित रखते हैं। जब तक आत्मा साधना के प्रारंभिक चरण में रहती है, तब तक दोनों का भेद दिखाई देता है। व्यवहार बाहरी आचरण का मार्ग है और निश्चय आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव है। आत्मानुभूति रूपी सागर में पहुंचने पर दोनों का भेद समाप्त हो जाता है।

अरिहन्ते पूजिते भावे, जाग्रति आत्मदीपिका।
क्रियामात्रेण न सिद्धिः, भावे सिद्धिः प्रजायते।

अरिहंत भगवान की पूजा करने से आत्मा में जागृति का प्रकाश उत्पन्न होता है। लेकिन केवल बाहरी क्रिया करने मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। जब पूजा में शुद्ध श्रद्धा और आत्मभाव जुड़ता है, तभी साधना सार्थक बनती है। वास्तविक पूजा वह है, जो आत्मा को अरिहंत स्वरूप की ओर ले जाए।

एकाकी चरते मार्गे, न बाधा न च बन्धनम्।
स्वगत्या याति यो जीवः, स एव लभते पदम्।।

जो जीव अपने मार्ग पर स्वयं चलता है, वही अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। दूसरों के सहारे चलने वाला जीव अक्सर अपनी दिशा खो देता है। आत्मा की यात्रा भीतर की यात्रा है, जिसे स्वयं ही तय करना पड़ता है। स्वाधीन होकर चलने वाला साधक ही मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है।

नामरूपविहीनं यत्, तत्त्वं शुद्धं निरामयम्।
तत्र गत्वा सुखं नित्यं, नास्ति ख्यातिर्न चाक्षरम्।।

जहाँ नाम, रूप और बाहरी पहचान समाप्त हो जाती है, वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। संसार में जीव नाम और प्रसिद्धि के पीछे भटकता रहता है। लेकिन आत्मा का वास्तविक सुख बाहरी पहचान में नहीं, भीतर की शुद्धता में है। जिस अवस्था में अहंकार समाप्त हो जाता है, वहीं शाश्वत शांति प्राप्त होती है।

अरिहन्तो मार्गदर्शी स्युः, सिद्धाः तु परमं पदम्।
स्वरूपज्ञानसम्पन्ने, नास्ति भेदो कदाचन।।

अरिहंत भगवान मोक्षमार्ग का मार्गदर्शन करने वाले होते हैं और सिद्ध भगवान पूर्ण मुक्त अवस्था हैं। जब तक आत्मा साधना के मार्ग पर होती है, तब तक यह भेद दिखाई देता है। अरिहंत अवस्था में देह और उपदेश रहता है, जबकि सिद्ध अवस्था पूर्ण निर्विकारी होती है। लेकिन आत्मस्वरूप का अनुभव होने पर यह समस्त भेद समाप्त हो जाता है।

राज्ये नश्वर वैभवं, आत्मा नित्य अधीश्वरः।
यः स्वात्मनि स्थितो नित्यं, तस्य नाशो न विद्यते।।

संसार का राज्य, धन और वैभव नश्वर हैं, जो एक दिन समाप्त हो जाते हैं। लेकिन आत्मा का स्वरूप शाश्वत और अविनाशी है। जो जीव अपने आत्मस्वरूप में स्थित रहता है, वह बाहरी परिवर्तन से विचलित नहीं होता। आत्मा में स्थिर रहने वाला साधक ही वास्तविक सुख और अमरत्व को प्राप्त करता है।

प्रातिहार्यं परित्यज्य, आत्मतेजः प्रकाशते।
मोहान्धकारनाशाय, ज्ञानसूर्यः उदेति हि।।

प्रातिहार्य को छोड़ने पर आत्मा का तेज प्रकट होता है, जो मोह रूपी अंधकार का नाश करता है। बाहरी चमत्कार और आकर्षण आत्मा के वास्तविक स्वरूप को छिपा देते हैं। जब जीव आत्मज्ञान की ओर बढ़ता है, तब उसके भीतर ज्ञान रूपी सूर्य उदित होता है। उसी आत्मप्रकाश से मोह, अज्ञान और भ्रम का अंत होने लगता है।

शरीरं तीर्थरूपं हि, आत्मा तत्र प्रतिष्ठितः।
यः पश्यति स्वभावेन, स याति परमां गतिम्।।

यह शरीर ही तीर्थ के समान है, जिसमें आत्मा विराजमान है। मनुष्य शरीर केवल भोग और संसार के लिए नहीं, बल्कि आत्मकल्याण का साधन है। जो जीव इस शरीर को आत्मस्वरूप की साधना के रूप में देखता है, वह सही मार्ग को प्राप्त करता है। स्वभाव में स्थित होकर आत्मा को पहचानने वाला जीव परम गति को प्राप्त करता है।

रिद्धिसिद्धिप्रसिद्धयर्थं, तपो यत् क्रियते नरैः।
तन्मिथ्यातप उच्यते, आत्मार्थं तप उत्तमम्।।

रिद्धि, सिद्धि और प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए किया गया तप मिथ्यातप कहलाता है। जो तप केवल दिखावे, मान और शक्ति प्राप्ति के लिए किया जाता है, वह सात्मकल्याणकारी नहीं होता। सच्चा तप वह है, जो आत्मशुद्धि और राग–द्वेष को कम करने के लिए किया जाए। आत्मा में स्थिर होकर किया गया तप ही उत्तम और सम्यक् तप है।

सम्यग्दर्शनज्ञानं च, चरित्रं च त्रयं शुभम्।
एतदेव परं वित्तं, नान्यद् वैभवमुत्तमम्।।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र ये तीनों ही आत्मा के श्रेष्ठ रत्न हैं। संसार का धन और वैभव नश्वर है, लेकिन रत्नत्रय शाश्वत संपत्ति है। यही तीनों आत्मा को सही मार्ग और वास्तविक सुख प्रदान करते हैं। रत्नत्रय से बढ़कर संसार में कोई दूसरा वैभव नहीं है।

स्वात्मानं तीर्थमज्ञात्वा, बहिर्मार्गे भ्रमत्यलम्।
यः स्वं तीर्थं विजानाति, स याति भवसागरात।।

जो जीव अपने आत्मस्वरूप को तीर्थ नहीं पहचानता, वह बाहरी संसार में भटकता रहता है। वह सुख और शांति की खोज बाहर करता है, लेकिन संतोष प्राप्त नहीं कर पाता। जो आत्मा अपने भीतर स्थित शुद्ध स्वरूप को पहचान लेती है, उसका भटकाव समाप्त हो जाता है। अपने भीतर के तीर्थ को जानने वाला जीव भवसागर से पार हो जाता है।

यथा नेत्रेण दृष्टं स्यात्, चश्मरूपेण भासते।
तथा कर्मोपाधिना जीवः, विश्वं पश्यति भ्राम्यते।।

न भाषा, न शब्द और न ही वर्णों के माध्यम से परम सत्य को समझा जा सकता है। ॐकोई साधारण अक्षर नहीं, बल्कि ब्रह्मनाद स्वरूप दिव्य ध्वनि है। यह ध्वनि बाहरी इन्द्रियों से नहीं, आत्मज्ञान के माध्यम से अनुभव की जाती है। आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होती है, तभी इस दिव्य चेतना का बोध होता है।

न भाषया न शब्देन, न वर्णेर्न च चिन्तया।
ओंकारो ब्रह्मनादोऽयं, आत्मज्ञानेन गम्यते।।

मैं उस परम शुद्ध, ज्ञानमय और निरंजन आत्मा को प्रणाम करता हूँ, जिसे जान लेने पर फिर किसी अन्य को प्रणाम करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह आत्मा नित्य, निर्विकार और अपरिवर्तनशील है।

ग्रन्थानधीत्य बहुधा, ग्रन्थार्थो नैव लभ्यते।
निर्ग्रन्थो यः स्वमात्मानं, पठति स विमुच्यते।।

ग्रंथों को बार–बार पढ़ने से केवल उनका अर्थ मिलता है, पर जो निग्रंथ होकर स्वयं को पढ़ता है, वही मुक्त होता है। केवल शब्दों का ज्ञान आत्मानुभूति नहीं देता। सच्चा ज्ञान तब प्रकट होता है, जब जीव अपने भीतर उतरकर स्वयं को पहचानता है। आत्मस्वरूप का अध्ययन ही मुक्ति का वास्तविक मार्ग है।

कर्तृत्वभावसंयुक्तो, जीवः कर्मणि बद्धयते ।
ज्ञातादृष्टा भवेद्यस्तु, स मुक्तिं प्रतिपद्यते।।

कर्ता भाव वाला जीव कर्मों में बंधता है। जो ज्ञाता दृष्टा बन जाता है, वह मुक्ति को प्राप्त करता है। "मैं करता हूँ" यह भावना ही कर्मबंधन का मुख्य कारण बनती है। ज्ञाता–दृष्टा अवस्था में आत्मा केवल जानने और देखने वाली रहती है। ऐसी शुद्ध अवस्था ही आत्ममुक्ति का मार्ग खोलती है।

देहं त्यवा जनाः देवं, स्वर्गवासीति मन्यते ।
रागः स्वर्ग नयत्येवं, विरागो मोक्षकारणम्।
तरमात् हे आत्मन् नित्यं, स्वात्मानं ज्ञातुमर्हसि।।

देह छोड़ने के बाद लोग उसे स्वर्गवासी कहते हैं। देह के प्रति राग स्वर्ग तक ले जाता है, जबकि आत्मा के प्रति विराग (अनुराग) मोक्ष का कारण बनता है। इसलिए हे आत्मनं, तू सदा अपने आत्मस्वरूप को ही जान। संसार में लोग बाहरी दृष्टि से जीव की गति का अनुमान लगाते हैं। लेकिन वास्तविक कल्याण आत्मा की शुद्धता और विराग में छिपा होता है। आत्मस्वरूप की पहचान ही मोक्षमार्ग का वास्तविक आधार है।

स्वर्गस्था अपि देवाः हि, जिनसेवारताः सदा ।
त्वं किमर्थं भवे लीनः, देहसुखेषु मोहितः।।

स्वर्ग में स्थित देवता भी सदैव मोक्षमार्गी जिनदेव की सेवा में लगे रहते हैं। तो फिर मनुष्य क्यों देह–सुखों की इच्छा में ही लीन होकर भटकता है? देवता भी जानते हैं कि सच्चा कल्याण केवल मोक्ष में ही है। देह और भोगों का सुख क्षणिक और नश्वर है। आत्मकल्याण की ओर बढ़ना ही मानव जीवन का वास्तविक उद्देश्य है।

पारशः स्पर्शमात्रेण, लोहं काञ्चनतां नयेत्।
आत्मपारशसंस्पर्शात, जीवः सिद्धत्वमश्नुते।।

पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी पारस के स्पर्श से जीव स्वयं परमात्मा बन जाता है। बाहूरी पारस केवल धातु को रूप बदलता है, लेकिन आत्मज्ञान जीव के जीवन को बदल देत्ता है। जब आत्मा का वास्तविक अनुभव होता है, तब अज्ञान समाप्त होने लगता है। सम्यग्ज्ञान आत्मा को उसके शुद्ध और दिव्य स्वरूप की ओर ले जाता है।

सर्वेषां सह गच्छन् यः, काचवत् प्रतिबिम्बते ।
स्वात्मानं यः विजानाति, स हीरवत् प्रकाशते।।

जो सभी के साथ केवल भीड़ में चलता है, वह काँच की तरह केवल प्रतिबिंब बनकर चमकता है। लेकिन जो अपने आत्मस्वरूप को जान लेता है, वह हीरे की तरह अपनी अलग और वास्तविक चमक से प्रकाशित होता है। भीड़ के अनुसार चलने वाला व्यक्ति अपनी मौलिकता और वास्तविक पहचान खो देता है। आत्मज्ञान ही जीव को स्थायी प्रकाश, आत्मबल और सच्ची पहचान प्रदान करता है।

काचरय प्रतिबिम्बेषु, दृश्यते रूपसङ्ग्रहः ।
हिरे तु चरितं ज्ञेयं, न रूपेण न शोभया।।

काँच के टुकड़े में केवल बाहरी प्रतिबिंब दिखाई देता है। लेकिन हीरे की पहचान उसकी चमक से नहीं, बल्कि उसके वास्तविक गुण और मूल्य से होती है। बाहरी रूप और दिखावा स्थायी नहीं होते। मनुष्य का वास्तविक मूल्य उसके चरित्र, आचरण और शुद्धता से पहचाना जाता है।

सामान्यज्ञानमात्रेण, न लभ्यते परा गतिः ।
सम्यग्ज्ञानेन युक्तस्तु, जगत्पूज्यत्वमाप्यते।।

सिर्फ सामान्य ज्ञान से उच्च आत्मिक उपलब्धि नहीं मिलती। सामान्य ज्ञान जीवन के व्यवहारिक पक्ष तक सीमित रहता है। लेकिन सम्यग्ज्ञान आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है। सम्यग्ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही जग में वास्तविक रूप से पूज्य बनता है।

मृत्युर्न प्रतीक्षते कञ्चित, कालोऽपि न विलम्बते ।
नश्वरं सर्वमित्येवं, चेतनं शरणं व्रजेत्।।

मृत्यु और समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। यह सम्पूर्ण संसार नश्वर और परिवर्तनशील है। जो उत्पन्न हुआ है, उसका एक दिन नाश निश्चित है। इसलिए मनुष्य को चेतन आत्मा की शरण लेकर उसी में स्थिर होना चाहिए।

चञ्चलं मन एवान्तः, विषयेषु प्रवर्तते ।
एकाग्रं तु भवेत् तस्य, यत्र चित्तं प्रतिष्ठितम्।।

मन स्वभाव से चंचल होकर विषयों में भटकता रहता है। लेकिन वही मन स्थिर और एकाग्र होता है, जब वह ऐसे परम लक्ष्य में स्थित किया जाए जहाँ चित्त पहले से स्थिर हो चुका हो।

देहभोगेषु सुखमिति, मूढः सर्वं प्रपद्यते ।
ज्ञातृद्रष्टा स्वभावं यः, न जानाति स दुर्गतिः।।

मनुष्य संसारौं शरीर और भोगों को ही सुख का साधन मान लेता है। परंतु वह अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव वाली आत्मा को नहीं पहचान पाता। वह बाहरी आकर्षणों में ही आनंद खोजता रहता है, जिससे उसका मन सच्चे सुख से दूर बना रहता है।

माता गोदं यथा बालः, गच्छति स्वसुरक्षणम् ।
तथैव आत्मगोदं तु, न गच्छन्ति बहवः जनाः।।

जिस प्रकार बच्चा अपनी सुरक्षा के लिए माँ की गोद में जाता है। उसी प्रकार जीव अपनी आत्मा की गोद में क्यों नहीं जाता बाहरी सहारों में भटकते हुए वह भीतर की शांति को भूल जाता है। जबकि सच्चा आश्रय उसकी अपनी आत्मा में ही स्थित है।

अनादिकालतो मूढः, सम्बन्धान् स्वीकृतान् जनः।
ममत्वेन विमूढात्मा, स्वं न जानाति कदाचन।।

अनादि काल से मनुष्य माता–पिता, संतान, रिश्तेदार और धन–सम्पत्ति को अपना मानता आया है। इन्हीं मान्यताओं में उलझकर वह स्वयं को कभी नहीं पहचान पाता। वह बाहरी संबंधों को ही अपनी पहचान समझ बैठता है, जिससे आत्मस्वरूप का वास्तविक ज्ञान उससे दूर हो जाता है।

ज्ञानैः ऋषित्वसिद्धिभ्यां, जगत्पूज्यत्वमाप्यते।
आत्मानुभूतिमात्रेण, स स्यात् परमपूजितः।।

अपने ज्ञान, ऋषित्व और सिद्धियों से व्यक्ति जगत में पूज्य बन सकता है। उसके गुण और क्षमताएँ उसे समाज में सम्मान दिलाती हैं। परंतु आत्मा की अनुभूति ही उसे परम पूज्य बना देती है। क्योंकि वही उसे शुद्ध चेतना के वास्तविक स्वरूप में स्थापित करती है।

परिग्रहो न शाश्वतः, आत्मा तु सहचारिणी।
त्यक्ते देहे गता सर्वे, धर्मः केवलं स्थितिः।।

धन, संपत्ति और परिग्रह स्थायी नहीं हैं। केवल आत्मा ही सदैव साथ रहने वाली है। शरीर के छूटते ही सब कुछ यहीं छूट जाता है। केवल कर्म और धर्म ही जीव के साथ रहते हैं।

आत्मा हि हीरवत् शुद्धा, कंचन–कामिनी–जले।
भ्रान्त्या परे निमग्रः सन्, नाशयेत् निज–वैभवम्।।

आत्मा वास्तव में हीरे के समान शुद्ध और मूल्यवान है। जबकि काँच, कामना और शरीर आदि क्षणभंगुर हैं। फिर भी अज्ञानवश जीव परपदार्थ में डूब जाता है। और अपने वास्तविक आत्म वैभव को नष्ट कर देता है।

सत्सङ्गे यः स्थितो जीवः, सन्तोषं प्राप्नुते ध्रुवम्।
तदेव सम्यग्दर्शनं, यत् तत्त्वे दृढनिश्चयः।।

जो भव्य जीव संतों के सानिध्य में रहता है। वह निश्चित ही संतोष को प्राप्त करता है। और सत्य मार्ग में दृढ़ विश्वास उत्पन्न होने लगता है। यही सम्यक् दृष्टि औस्सम्यग्दर्शन कहलाता है।

व्यवहारे भिदा ज्ञेया, निश्चये नास्ति भेदता।
आत्मैक्यं यः विजानाति, स ज्ञात् सम्यग्दृग बुधः।।

व्यवहारिक ज्ञान में भेद दिखाई देता है। लेकिन निश्चय दृष्टि में कोई भेद नहीं होता। जो आत्मा के एकत्व को जान लेता है। वही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी कहलाता है।

सुखीऽहमरिम दुःखी च, धनी दीन इति भ्रमः ।
कर्माधीनविकल्पेषु, आत्मा शुद्धोऽहमव्ययः ।।

मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं अमीर हूँ, मैं गरीब हूँ यह सब भ्रम है। ये सभी अवस्थाएँ कर्मों के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं। वास्तव में आत्मा इन परिवर्तनों से परे रहती है। आत्मा शुद्ध, अविनाशी और कर्मों से रहित स्वरूप है।

परैः पीड्चेऽहमित्येवं, भ्रान्ता बुद्धिर्जनस्य या ।
स्वकालबोधसम्पन्नः, स शान्तिमधिगच्छति।।

मुझे कोई परेशान करेगा या मैं किसी से परेशान होऊँगाष यह भ्रमपूर्ण मान्यता है। मनुष्य दूसरों को ही अपने सुख–दुःख का कारण मानता रहता है। लेकिन जो अपने समय, कर्म और आत्मस्वरूप को जान लेता है। वह भीतर से शांति और स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।

इन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते आत्महेतोः शरीरिणः ।
आत्मनि लीनते शान्ते, सर्वे लीनाः भवन्ति हि।।

इंद्रियाँ आत्मा के कारण ही कार्य करती हैं। आत्मा की चेतना से ही शरीर और इंद्रियों में क्रिया होती है। जब आत्मा शांति में स्थित होकर अतीन्द्रिय अवस्था को प्राप्त करती है। तब सभी इंद्रियाँ स्वतः शांत और निष्क्रिय हो जाती हैं।

राज्यं नित्यं न भवति, वैभवोऽपि विनश्वरः ।
आत्मा गच्छति एकाकी, कर्मसंगेन केवलः ।।

राज्य और वैभव कभी स्थायी नहीं होते। धन, पद और सत्ता समय के साथ नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु के बाद आत्मा अकेली ही अपनी यात्रा पर निकलती है। केवल उसके कर्म ही उसके साथ जाते हैं।

न कश्चित् मोहयेत् चित्तं, ज्ञात्वा आत्मस्वरूपकम्
स्थितः शुद्धात्मभावे तु, न पुनर्भवसङ्कटः

जो जीव अपने आत्मस्वरूप को जान लेता है। उसका मन कोई भी संसारिक वस्तु डिगा नहीं सकती। शुद्ध आत्मभाव में स्थित होने पर जीव स्थिर हो जाता है। और पुनर्जन्म का संकट धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है।

अनादिकालसंसारे, जन्ममृत्युपरम्परा ।
आत्मबोधे स्थिते जीवः, मुक्तो भवति निश्चितम् ।।

अनादिकाल से यह जीव जन्म और मृत्यु के चक्र में घूमता रहा है। कर्मों के बंधन में बंधकर वह संसार में भटकता रहता है। लेकिन जब वह अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को जान लेता है। तब उसका संसार भ्रमण समाप्त हो जाता है।

न संतानहीना माता, न सम्यग्रहिता आत्मा ।
ज्ञानदर्शने स्थितः सन्, भवति स परमेश्वरः।।

जैसे संतान के बिना स्त्री माँ नहीं कहलाती। वैसे ही सम्यक् दृष्टि के बिना आत्मा परमात्मा नहीं कहलाती। ज्ञान और दर्शन में स्थित होकर ही आत्मा जागृत होती है। और वही अवस्था उसे परमात्म स्वरूप की ओर ले जाती है।

उदयात् सूर्यवत् पूज्यः, पुण्यात्मा जगति स्थितः ।
तारकाः दिशि भ्रमन्ति, न तु पूज्यत्वमाप्नुवन् ।।

सूर्य जैसे पूर्व दिशा से उदित होकर पूज्य होता है। वैसे ही पुण्यात्मा संसार में पूजनीय बनता है। तारे केवल दिशाओं में घूमते और चमकते रहते हैं। परंतु वे सूर्य के समान पूज्यता को प्राप्त नहीं करते।

निष्कर्ष–

किनारे दोनों साथ चलें, पर सागर में खो जाते हैं।
निष्चय–व्यवहार भेद सभी, आत्मा में सो जाते हैं।
जहां अनुभव का उदय हुआ, वहां द्वंद मिट जाता हैं,
सागर बनकर आत्मा, सब सीमाएं भूल जाता हैं।।

पत्थर भी भगवान बने, जब भाव उसमें आ गया,
पूजा में जो डूब गया, वह खुद ही चमक गया।
अरिहंत की राह पकड़, भीतर दीप जलाओ,
क्रिया से नहीं, भाव से ही, खुद को भगवान बनाओं।।

नाम बहुत कमाए यहां, पहचान भी बनती रही,
पर जहां सब शून्य हो जाए, वही असली खुषी।
चलो वहां अब आत्मा, जहां कोई नाम न हो,
बस शुद्ध स्वरूप बचे, और कोई काम न हो।।

राज्य गया तो क्या गया, सब माया का खेल,
आत्मा का जो राज्य है, न होता उसका मेल।।

जैन धर्म में हिंसा तथा अहिंसा का बड़ा ही विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन हुआ है। इसके अनुसार प्रमाद वश किसी भी प्राणी का घात करना अथवा उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाना हिंसा कही जाती है, हिंसा मन, वचन तथा कर्म से कि जाती है इन्हें योग कहा गया है। यह की जाती है, करवाई जाती है तथा अनुमोदित होती है। करना, करवाना और अनुमोदन करना इसके तीन करण हैं। अहिंसा से यद्यपि जनकल्याण होता है, दूसरों की रक्षा होती है। इसका मुख्य उद्देश्य आत्मकल्याण है। अहिंसा व्रत के पालन में आत्मसंयम ही साध्य का काम करता है। यदि इससे लोक कल्याण होता है तो मात्र सिलसिले में कि आत्म कल्याण के लिए प्रयास किया जाता है जिस प्रकार स्तेय, असत्य आदि हिंसा के पोषक तत्व हैं उसी प्रकार सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अहिंसा के पोषक तत्व हैं।

संदर्भ–

1. हरिवंशपुराण 4/2–5
2. अकलंकदवेः तत्वार्थवार्तिक 5/9/3–5
3. पंचास्तिकाय गाथा 92–94
4. अकलंकदवेः तत्त्वार्थवार्तिक 5/12/2–6
5. पूज्यपादः सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 5/18
6. प्रवचनसार गाथा 140, व्याख्याकार अमृतचन्द्राचार्य
7. तत्वार्थवार्तिक 5/18/10
8. उपासकदषांग सूत्र, आत्माराम जी, प्रा. अध्यन, सूत्र, 13,